स्वयं पापसे हैं हटते । सर्वस्वसे अलिप्त होते।
फिर उसीमें आ पचते । बलात्कारसे ॥ ३६ ॥

जिससे अरुचि है मनसे । वे ही आ चिपकते चितसे।
टालना चाहें सतत जिसे । वही लिपटते हैं ॥ ३७ ॥

दीखता यहां बलात्कार । यहां चलता किसका जोर ।
जानना चाहूं चक्रधर । कहता पार्थ ॥ ३८ ॥

हृदय कमलका आराम । योगियोंका जो निष्काम ।
कहता है श्री पुरुषोत्तम । कहता हूं सुन ॥ ३९ ॥

भगवान उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

इसका मूल रजोगुण----

अजी ! सुन ये कामक्रोध जो हैं । इनमें दयाका नाम नहीं है।
ये कृतांत यमके ही सम हैं । मान ले तू ॥ ३४० ॥

ये हैं ज्ञान निधिके भुजंग । विषय काननके हैं बाघ ।
भजन मार्गके हैं ये मांग । अति घातुक ॥ ४१ ॥

ये हैं देह दुर्गके आधार । इंद्रिय ग्रामके सरदार ।
अविवेक करते गदर । विश्वमें सब ॥ ४२ ॥

रजो गुण है मनका । मूल है असुरताका ।
पोषण किया इनका । अविद्याने ॥ ४३ ॥

यदि हैं ये रजसे संपन्न । किंतु हैं तमसे भी अभिन्न ।
तभी उसने दिया आसन । प्रमाद मोहका ॥ ४४ ॥

मृत्यु नगरके भीतर । मान है इनका अपार ।
करते जीवनका वैर । इसीलिये ॥ ४५ ॥

श्री भगवानने कहा

यह तो काम औ' क्रोध जो रजो-गुणसे बने ।
बडे खाऊ तथा पापी वैरी हैं जान तू इन्हे ॥ ३७ ॥

इनकी भूखकी अभिलाष । जो कहती विश्व है एक ग्रास ।
इसकी प्रबंधक है आस । जो असीम ॥ ४६ ॥

लीलामें जब यह मुट्ठी कसती । चौदहों भुवनोंको ओछा मानती ।
इसकी भगिनी भ्रांति कहलाती । अति लाड़ली ॥ ४७ ॥

कौर बनाकर इक लोकत्रयका । खेल खेलती सहज निगलनेका ।
दासी-पनमें इठलाती है भ्रांतिका । तृष्णा वहां ॥ ४८ ॥

होता है वहां मोहका सम्मान । जिससे अहंका है लेन-देन ।
सर्वत्र करता तांडव महान । चातुर्यसे जो ॥ ४९ ॥

सत्यका जिसने सार निकाल कर । उसमें अकृत्यका भूसा भरकर ।
दंभ रुढ किया वह विश्वभर । इसने ही ॥२५० ॥

साध्वी शांतिको सुन नग्न किया । हत्यारी मायाका श्रृंगार किया ।
साधु समाजको भृष्ट कराया । उनसे यहां ॥ ५१ ॥

नीव मिटा दी विवेककी । खाल उतारी वैराग्यकी ।
गर्दन तोड़ दी निग्रहकी । जीते जी ॥ ५२ ॥

उजाड़ा संतोष वनको । गिराया धैर्यके दुर्गको ।
उखाड़ा आनंद गाछको । जग भरमें ॥ ५३ ॥

उखाड़ा बोध पौधको । पोंछा सुखकी लिपिको ।
हियमें जलायी आगको । तापत्रयकी ॥ ५४ ॥

देहके साथ ये पैदा हुए । जीवके साथ ये जुड़ गए ।
न मिलते बैठे छिपे हुए । ब्रह्मको भी ॥ ५५ ॥

रहते हैं चैतन्यके पडोसमें । बैठते हैं ज्ञानके ही पंगतमें ।
उठते हैं कुहराम मचानेमें । तब रुकते नहीं ॥ ५६ ॥

शस्त्रके बिन ये मारते । डोरके बिन हैं बांधते ।
ज्ञानियोंको तो मिटा देते । प्रतिज्ञापूर्वक ॥ ५७ ॥

जल बिन ये डुबोते हैं । आगके बिन जलाते हैं ।
मौन रह लपेटते हैं । प्राणिमात्रको ॥ ५८ ॥

बिन कीचडके ये गाड़ते । बिन पाशके भी हैं कसते।
किसीके हाथमें न आते। काबू कभी ॥ ५९ ॥

धूमेनाव्रिऽयते वन्हिर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनाऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८॥

चंदन वृक्षमें जैसे । लिपट रहता साप वैसे।
या खोल रहता जैसे । गर्भ पर ॥ २६० ॥

या प्रभाके बिन भानु । हुताशन धूमके बिनु।
या दर्पण मल हीन । कहीं न रहता ॥ ६१ ॥

ज्ञानके पास ये दुष्ट आ बसते हैं—

इनके बिन ज्ञान नहीं । न देखा है हमने कहीं ।
भूसेके बिन बीज नहीं । उपजता जैसे ॥ ६२ ॥

आवृत्तं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

वैसे ज्ञान है विशुद्ध । किंतु इनसे अरुद्ध।
तभी है हुआ अगाध । पानेमें वह ॥ ६३ ॥

पहले इनको है जीतना । फिर ज्ञानको प्राप्त करना ।
इनका पराभव करना । कष्ट साध्य ॥ ६४ ॥

जब इनको जीतनेमें । बल लावे तब तनमें।
ईंधन डालनेसे आगमें । जैसे बढती ॥ ६५ ॥

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

ढका है धूमसे अग्नि जैसे दर्पण धूलसे।
जेरीसे घिरता गर्भ वैसे है ज्ञान कामसे ॥ ३८ ॥
काम-रूप महा अग्नि न होता तृप्त जो कभी ।
ज्ञानीका तो नित्य-शत्रु उसने ज्ञानको ढका ॥ ३९ ॥
इंद्रियां मन औ'बुद्धि इनका आसरा लिये।
छिपाके ज्ञान जीवोंका करता मोह-ग्रस्त जो ॥ ४० ॥

जो जो साधन है करते । वे सब इन्हीको बढाते ।
इसीलिये येही जीतते । हठयोगियोंको ॥ ६६ ॥

इंद्रिय दमन, इनको जीतनेका उपाय है—

किंतु इन्हे जीतनेमें एक । उपाय है बडा ही नेक ।
करना हो तो करके देख । कहता हूं तुझे ॥ ६७ ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इंद्रिय इनका पहला आसन । वहांसे ही होते हैं कर्म उत्पन्न ।
करना है इंद्रियोका निर्दलन । सर्वथैव ॥ ६८ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

दौड रुकेगी मनकी । औ' मुक्ति होगी बुध्दिकी ।
नींव हिलेगी इनकी । ये जो पापी ॥ ६९ ॥

मिटे जब ये अंतरंगसे । तभी गये ये जड मूलसे ।
न रहता मग जल जैसे । सूर्य किरण बिन ॥ २७० ॥

एवं बुध्दे परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽत्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

तभी जीवको ब्रह्म-स्वराज्य मिलेगा—

ऐसे रागद्वेष जब मिटता । ब्रह्मात्मका तब स्वराज्य आता ।
फिर वह आनंद है भोगता । अपने आप ॥ ७१ ॥

इनका पहला स्थान जीतके इंद्रियां सब ।
टाल तू इस पापीको ज्ञान विज्ञान नाशक ॥ ४१ ॥

इंद्रियोंको कहा श्रेष्ठ उससे श्रेष्ठ है मन ।
मनसे बुद्धि है श्रेष्ठ श्रेष्ठ है उससे प्रभु ॥ ४२ ॥

जान ऐसा प्रभु श्रेष्ठ निजको जीत आप ही ।
काम रूपी महा-शत्रु इसका नाश तू कर ॥ ४३ ॥

गुरु शिष्योंके संवादमें । पद-पिंडके एकत्वमें ।
स्थिर रह नित्य-रूपमें । न हठो कभी ॥ ७२ ॥

अगले अध्यायकी भूमिका—

सिद्ध है जो सकल सिद्धोंका । रमण है श्रीरमादेवीका ।
स्वामी सकल देवादिकोंका । कहने लगा ॥ ७३ ॥

अब पुन वह अनंत । कहेगा आदीकी जो बात ।
जब उनसे पांडुसुत । प्रश्न करेगा ॥ ७४ ॥

उसके बोल होंगे सरस । उसमें अनुभवेंगे रस ।
श्रोताओंमें उमडेगा उन्मेष । श्रवण सुखका ॥ ७५ ॥

ज्ञानदेव कहे निवृत्तिका । जागृत करके विवेकका ।
आप सुनिये हरि-पार्थका । संवाद सब ॥ ७६ ॥

गीता श्लोक ४३

ज्ञानेश्वरी ओवी २७६

४

ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग

श्रोताओंको ज्ञानेश्वर महाराजका उद्‌बोधन—

सुकाल हुआ श्रवणेंद्रियोंका । दर्शन हुआ गीता-निधानका।
अजी ! साकार ही हुआ स्वप्नका । उनको यहां ॥ १ ॥

मूलमें है विवेककी गोष्ठि । कहनेवाला श्रीकृष्ण श्रेष्ठी।
भक्तराज जो स्वयं किरीटी । सुनते हैं ॥ २ ॥

पंचमालाप है सुगंध । तथा परिमल सुस्वाद।
वहां है भलासा विनोद । कथानकका ॥ ३ ॥

श्री हरिकी कृपा हुई । अमृतकी गंगा वही।
तपस्या सफल हुई । श्रोताओंकी ॥ ४ ॥

इंद्रियोंको अब संपूर्ण । बनकर स्वयं श्रवण।
अनुभवना गीताख्यान । संवाद सुखका ॥ ५ ॥

अब यह अप्रासंगिक । विस्तार छोडके अधिक ।
कहो कृष्णर्जुन हो एक । बोले क्या हैं ॥ ६ ॥

तब संजय बोले राजासे । सुदैव जुड़ा है अर्जुनसे ।
तभी अति प्रीति है उनसे । नारायणकी ॥ ७ ॥

जो न कहा पिता वसुदेवसे । औ' न जो कहा माता देवकीसे ।
या न कहा गुह्य बलभद्रसे । कहा वह पार्थसे ॥ ८ ॥

देवी लक्ष्मी इतनी नजदीक । वह भी न जानती यह सुख ।
कृष्ण प्रेमका फल जो अधिक । मिला अर्जुनको ॥ ९ ॥

थी सनकादिकोंकी जो आस । सुननेकी यह उपदेश ।
किंतु उनको भी ऐसा यश । मिला नहीं ॥ १० ॥

जगदीश्वरका है प्रेम । दीखता यहां निरुपम ।
पार्थने ऐसा सर्वोत्तम । किया पुण्य ॥ ११ ॥

अजी ! जिसकी अति प्रीति । अमूर्तको बनाती व्यक्ति ।
उसकी है एकात्म स्थिति । जंचती बहु ॥ १२ ॥

योगियोंको जो नहीं मिलता । वेदार्थमें भी जो नहीं आता ।
ध्यानस्थका नहीं पहुंचता । ध्यान चक्षुभी ॥ १३ ॥

ऐसा यह निज स्वरूप । अनादि तथा औ' निष्कंप ।
किंतु कैसा हुआ सकृप । इस भांतिसे ॥ १४ ॥

यह त्रिलोक पटका थान । जो है आकारके परे जान ।
प्रेमसे करमें है अर्जुन । कर लिया है ॥ १५ ॥

भगवान उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

इस योगकी प्राचीनता—

कहता है देव पांडुसुत । हमसे यह है विवस्वत ।
सुनी है योगकी गुह्य बात । बहुत पहले ॥ १६ ॥

बोले फिर वह भास्कर । योग स्थिति यह सुंदर ।
पूर्ण रूपसे सुअवसर । मनुसे तब ॥ १७ ॥

मनुने इसका अनुष्ठान । कर दिया ज्ञानोपदेश दान ।
इक्ष्वाकुको, ऐसी है महान । आदि परंपरा ॥ १८ ॥

पहले सूर्यसे मैंने कहा था योग अव्यय ।
मनुसे वह बोला था वह इक्ष्वाकुसे फिर ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

कितने ही इस योगसे और । हुए हैं राजऋषि जानकार ।
किंतु इस युगमें पृथ्वी पर । कोई न जानता ॥ १९ ॥

जिन प्राणियोंका आधार । देह तथा कामना पर ।
जिससे विस्मृति अपार । आत्म बोधकी ॥ २० ॥

अजी ! बदल गयी आस्था बुध्दि । विषय सुखकी परमावधि ।
इससे जीव हुवा है उपाधि । उन्हे भाता यही ॥ २१ ॥

गांवमें सुनो नग्न लोगोंके । काम क्या महीन कपडोंके ।
तथा जन्मांधोंमें सूरजके । कहो मुझे ॥ २२ ॥

या बहिरोंकी सभामें । गावें गीत सु-रागोंमें ।
सियारको चांदनीमें । होगी क्या चाह ? ॥ २३ ॥

अथवा पहले चंद्रोदयके । चक्षु होते हैं व्यर्थ जिनके ।
चंद्रोदयसे उन कागोंके । लाभ क्या हुआ ॥ २४ ॥

जैसे वैराग्यकी सीमा न जानते । विवेककी भाषा नहीं है सुनते ।
वैसे मूर्ख कहो कैसे जानते । मुझ ईश्वरको ॥ २५ ॥

मोहके बहुत बढनेसे । काल बहुत बीत जानेसे ।
लोप हुआ है योग इससे । इस लोकमें ॥ २६ ॥

स एवायं मयातेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वही योग तुझसे अर्जुन । कहा है मैंने इसी क्षण ।
उसको तू तत्वता जान । न करके भ्रांति ॥ २७ ॥

ऐसी परंपरासे जो मिला राजर्षि-वृंदको ।
आगे समय जानेसे विश्वमें लोप होगया ॥२॥

वही आज तुझे मैंने कहा योग पुरातन ।
कहा है गुह्य जो सार भक्त है तू सखा मम ॥ ३ ॥

मेरे जीवनका यह गुपित । तुझसे छिपाना नहीं उचित ।
तू है मेरा आत्मीय बहुत । इसीलिये ॥ २८ ॥

प्रेमका तू पुतला । भक्तिका है जिव्हाला ।
मित्रताकी चित्कला । धनुर्धर ॥ २९ ॥

मेरा निकट तू अर्जुन । कैसे करूं तेरी वंचना ।
रण सज्ज हुए समान । हम दोनों ॥ ३० ॥

अन्य सब अब रहने देना । कोलाहलका विचार न करना ।
अज्ञान सब तेरा दूर करना । इसी समय ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

आजके तूने विवस्वतसे कैसे कहा ?—

अर्जुन कहता है तब श्रीधर । माता प्रेम करती संतान पर ।
इसमें विस्मय क्या है चक्रधर । कृपानिधि ॥ ३२ ॥

संसार श्रांतोंकी ह छाया । अनाथ जीवोंकी तू माय ।
हमने जो जन्म है पाया । तव कृपासे ही ॥ ३३ ॥

जन्म देकर पंगुको माता । कष्ट उठाती है स-ममता ।
ऐसी देव कैसे कहें वार्ता । तेरी तुझसे ही ॥ ३४ ॥

अब पूछूंगा देव एक बात । उस पर देना भला स्व-चित्त ।
प्रश्न पर क्रोध तू न किंचित । करो देव ॥ ३५ ॥

पिछली जो वह बात । तूने कही थी अनंत ।
न मानता मेरा चित्त । क्षण भी देव ॥ ३६ ॥

अजी ! वह विवस्वत नामका । अपरिचित है बाप-दादाका ।
कैसा किया है तूने उनका । उपदेश देव ॥ ३७ ॥

अर्जुनने कहा

अभीका जन्म है तेरा पूर्वका उस सूर्यका ।
पहले ही कहा तूने कैसे मैं वह मान लूं ॥ ४ ॥

वह है देव किस कालका । तू श्रीहरि है इस कालका ।
तभी दीखता तेरी बातका । असंगत पन ॥ ३८ ॥

किंतु तेरा चरित्र वैसे । हम उसको जाने कैसे ।
तभी वह असत्य ऐसे । नहीं कहता ॥ ३९ ॥

यह बात संपूर्ण ऐसे । कहना मैं समझूं वैसे ।
तूने उस सूर्यको कैसे । किया उपदेश ॥ ४० ॥

भगवान उवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

तेरे मेरे अनेक जन्म मैं जानता हूं—

कृष्ण कहे तब पांडुसुत । जब था वह विवस्वत ।
तब मैं नहीं था ऐसा चित्त- । भ्रम है तेरा ॥ ४१ ॥

अजी ! तू नहीं जानता सब । जन्म हमारे तुम्हारे अब ।
बीते हैं कितने कैसे कब । यह तू भूला है ॥ ४२ ॥

मैं जिस जिस असवरमें । अवतरा हूं जिस रूपमें ।
वह सब अपने मनमें । स्मरता पार्थ ॥ ४३ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतनामीश्वरोपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

धर्म रक्षणके लिये मेरा अवतार—

इसीलिये मुझे संपूर्ण । बीतेका होता है स्मरण ।
रहित मैं जन्म मरण । जन्मता प्रकृति योगसे ॥ ४४ ॥

श्रीभगवानने कहा

बीते मेरे कयी जन्म तेरे भी बहु अर्जुन ।
जानता मैं सभी बातें तू उन्हे जानता नहीं ॥ ५ ॥

होते हुये अजन्मा मैं निर्विकार जगत्प्रभु ।
जन्मता हूं स्वमायासे प्रकृति ओढके निज ॥ ६ ॥

अव्ययत्व मेरा नहीं मिटता । किंतु जन्म मरण है दीखता ।
यह सब प्रकृतिसे भासता । मुझमें नहीं ॥ ४५ ॥

मिटती नहीं मेरी स्वतंत्रता । दीखती मुझमें कर्माधीनता ।
यह है भ्रम-बुध्दिसे घड़ता । अन्यथा नहीं ॥ ४६ ॥

एक ही दीखता दूसरा । जो दर्पणका ले आधार ।

किंतु वहां वस्तु विचार । एक मात्र ॥ ४७ ॥
निराकार हूं मैं धनुर्धर । लेकर प्रकृतिका आधार ।
नटता हूं लेकर आकार । कार्यके लिये ॥ ४८ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

धर्ममात्र जो संपूर्ण । युगयुगमें रक्षण ।
करना मेरा लक्षण । आदिकालसे ॥ ४९ ॥

भूलता हूं तब अजत्व । छोड़ता हूं निराकारत्व ।
गिरता जब धर्म तत्व । अधर्मसे ॥ ५० ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामी युगे युगे ॥८॥

हितार्थ अपने भक्तोंके । आता हूं अवतार लेके ।
मिटाता तब अज्ञानके । अंधकारको ॥ ५१ ॥

अधर्मकी सीमा तोड़ता । पापकी सनद फाडता ।
सुखका ध्वज उभारता । सज्जनोंसे ॥ ५२ ॥

दैत्य कुलका संहार करता । साधु जनोंका सम्मान करता ।
धर्म नीतिका मेल बिठाता । धनुर्धर ॥ ५३ ॥

जब है गिरता धर्म जगमें तब अर्जुन ।
अधर्म उठता भारी लेता हूं जन्म मैं स्वयं ॥ ७ ॥
रक्षण कर संतोंका दुष्टोंका नाश करने ।
स्थापना करने धर्म जन्मता मैं पुनः पुनः ॥ ८ ॥

मिटाकर अविवेकका काजल । करता हूं विवेक दीप उज्वल ।
जिससे योगियोंकी दीपमाल । जले निरंतर ॥ ५४ ॥

आत्म-सुखसे विश्व खिलता । जगतमें धर्म ही रहता ।
सात्विकताका वसंत आता । भक्त जनोंमें ॥ ५५ ॥

पापका जहां पहाड टूटता । पुण्यका है प्रभात प्रकटता ।
मेरा रूप जब प्रकट होता । धनंजय ॥ ५६ ॥

ऐसे कार्यार्थ जगतमें । जनमता हूं युगयुगमें ।
जानता जो यह विश्वमें । विवेकी वही ॥ ५७ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

जो मेरा रूप जानते हैं वे मद्रूप होते हैं—

मैं जो अजत्वमें ही जनमता । अक्रियतामें सक्रिय रहता ।
अविकारत्व यह जो जानता । पाता वह मोक्ष ॥ ५८ ॥

संगमें वह असंग रहता । देहमें निर्देह अनुभवता ।
पंचतत्वमें जब मिल जाता । मेरे ही रूपमें ॥ ५९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

वे अपना पराया न सोचते । सदा कामना शून्य हो रहते ।
कभी वे राह भी नहीं देखते । क्रोधकी ॥ ६० ॥

सदा वे मद्भावमें ही रहते । मेरी सेवामें ही रत रहते ।
आत्म-बोधमें ही मगन होते । वीत राग हो ॥ ६१ ॥

मेरे जन्म तथा कर्म दिव्य जो जानता सही ।
तजके देह पुनर्जन्म न पाता मिलके मुझे ॥ ९ ॥

नहीं तृष्णा भय क्रोध जो मेरे कार्यमें रत ।
हुये ज्ञान तपोपूत तथा मद्भावमें कयी ॥ १० ॥

होते वे तप तेजके पुंज । एकायत-ज्ञान-निकुंज ।
पवित्रतामें है तीर्थराज । धनुर्धर ॥ ६२ ॥

सहजमें वे मद्भाव हुये । मेरे ही रूपमें एक भये ।
फिर मेरे उनमें न आये । बीच परदा ॥ ६३ ॥

जैसे पीतलके गंज कालिख । मिटे यदि वे दोनों निःशेष ।
सुवर्णत्व इससे अधिक । क्या रहा ? ॥ ६४ ॥

पूर्ण जो यम नियममें । शुद्ध है जो तपज्ञानमें ।
हुये वे मेरे ही रुपमें । निःसंदेह ॥ ६५ ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

केवल भ्रमवश मुझ एकको अनेक देखते हैं —

मुझे जो जैसा भजता । उसको वैसा ही देखता ।
दोनोंमें आती एकता । जान यह ॥ ६६ ॥

वैसे ही मनुष्य मात्र सकल । स्वभावसे ही है भजन-शील ।
हुए ऐस मुझमें ही केवल । पांडुकुमार ॥ ६७ ॥

किंतु ज्ञानाभावसे नाश होता । उससे ही बुध्दिभेद होता ।
उससे जगती है कल्पकता । अनेकत्वकी ॥ ६८ ॥

तभी अभेदमें भेद देखते । मुझे अनामको हैं नाम देते ।
देव देवीके रूपमें पूजते । है जो शब्दसे परे ॥ ६९ ॥

जहां जो सर्वत्र सदा सम । वहां विभाग अधमोत्तम ।
करते हैं मतिसे संभ्रम । विवेचन ॥ ७० ॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

भजते मुझ जो जैसे वैसे मैं भजता उन्हे ।
मेरे ही मार्गमें आते सभी हैं सब मार्गसे ॥ ११ ॥

देवोंको पूजते जो हैं चाहसे कर्म-सिध्दिकी ।
कर्मकी सिध्दि वे शीघ्र पाते हैं नर-लोकमें ॥ १२ ॥

फिर नाना हेतु प्रकारसे । यथोचित पूजोपचारसे ।
देवदेवांतरोंको मान्यतासे । उपासते ॥ ७१ ॥

जो हैं ऐसे अपेक्षित । पाते हैं वैसे समस्त ।
कर्मफल वे निश्चित । जान ले तू ॥ ७२ ॥

बिन कर्मके लेना देना अधिक । निर्भ्रांत ऐसा नहीं कुछ सम्यक ।
यहां है कर्म ही फल रूपक । मनुष्य लोकमें ॥ ७३ ॥

खेतमें जैसे जो कछु बोया जाता । उसके बिना अन्य न उपजता ।
अथवा जो देखता वही दीखता । दर्पणमें जैसे ॥ ७४ ॥

या गिरिकंदरामें जैसे । अपने ही शब्द वैसे ।
गूंजते हैं दश दिशासे । निमित्तयोग ॥ ७५ ॥

ऐसे ये सभी भजन । साक्षीभूत हूं अर्जुन ।
प्रति-फलती भावना । अपनी ही ॥ ७६ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

चातुर्वर्ण्य प्राकृतिक गुणोंके कारण—

इसी भांति तू जान । चार हैं ये वर्ण ।
रचे हैं मैंने गुण- । कर्म वि भागसे ॥ ७७ ॥

जो प्रकृतिके आधारसे । गुणोंके व्यभिचारसे ।
कर्मकी तदनुसारसे । योजना की ॥ ७८ ॥

है यहां यह एक अर्जुन । किंतु हुए हैं ये चार-वर्ण ।
ऐसे गुण कर्मके कारण । सहज हुआ ॥ ७९ ॥

तभी सुन तू पार्थ । ये वर्ण-भेद सस्था ।
कर्ता मैं न सर्वथा । इसीलिये ॥ ८० ॥

सृजे मैं ने वर्ण चार गुण-कर्म विभागसे ।
करके सब तू जान अकर्ता निर्विकार मैं ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

मेरे कारणसे यह भया । किंतु मैंने यह नहीं किया।
ऐसे जिसने प्रतीत किया । हुआ वह मुक्त ॥ ८१ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्ववर्ती मुमुक्षु जन । ऐसा हूं मैं, यह जान।
करते कर्माचरण । धनुर्धर ॥ ८२ ॥

किंतु जैसे भुने हुए बीज । उगते नहीं कभी सहज ।
वैसे ही उन्हे कर्म सहज । होते मोक्ष हेतु ॥ ८३ ॥

यहां और एक बात अर्जुन । यह कर्माकर्मका विवेचन।
अपने ही बुध्दिसे है करना । नहीं योग्य ॥ ८४ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्माकर्म विवेचनमें ज्ञानी भी भ्रममें—

कर्म करते हैं वह कौन । या अकर्मका है क्या लक्षण।
ऐसे सोचनेमें विचक्षण । पडते उलझनमें ॥ ८५ ॥

अजी ! खोटा सिक्का जैसा होता है । सच्चेकी समानता करता है ।
देखनेवालोंको जो डालता है । भ्रममें जैसे ॥ ८६ ॥

न लीपते मुझे कर्म न मुझे फल-कामना ।
मुझे जो जानते ऐसे कर्ममें भी अलिप्त वे ॥ १४ ॥

कर्म जो मुमुक्षुओंने किये हैं इस ज्ञानसे ।
कर तू कर्म वैसे ही उनसे पाठ लेकर ॥ १५॥

जाननेमें कर्माकर्म भ्रमते बुध्दिमान भी ।
तुझे मैं कहता कर्म छूटेगा जानके यह ॥ १६ ॥

वैसे नैष्कर्म्यके भ्रममें । पडते हैं कर्म-पाशमें ।
जो दूसरी सृष्टि मनमें । कर सकते ॥ ८७ ॥

मूर्खोंकी यहां कहें क्या बात । क्रांतदर्शी होते मोह-ग्रस्त ।
तभी कहता तुझसे बात । वही अब ॥ ८८ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

तभी कर्म जिसके स्वभावसे । विश्वाकार संभव हो उससे ।
जानना उसे संपूर्ण रूपसे । यहां सर्व प्रथम ॥ ८९ ॥
वर्णाश्रममें फिर उचित । तथा विशेष कर्म विहित ।
जानना उसको सुनिश्चित । उपयोगी जो ॥ ९० ॥

फिर जानना जो निषिद्ध । उसका भी रूप विषद ।
तभी न हो सकता बद्ध । सहज कर्ममें ॥ ९१ ॥
नहीं तो विश्व है कर्माधीन । उसका फैलाव है गहन ।
सुन लक्षण अब तू अर्जुन । बोध प्राप्तोंका ॥ ९२ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

कर्मका तिरस्कार और कर्मफलोंमें आशा दोनों नहीं —

करते हुए सकल कर्ममें । अकर्म देखता जो अपनेमें ।
निरपेक्ष होता कर्म संगमें । फलाशासे ॥ ९३ ॥

तथा कर्तव्य करनेमें । अन्य न कोई जगतमें ।
ऐसेको बोध अकर्ममें । अच्छा होता है ॥ ९४ ॥

क्रिया कलापका वह संपूर्ण । करता है उत्तम आचरण ।
किंतु इन लक्षणके कारण । जानना ज्ञानी ॥ ९५ ॥

जानना कर्म सामान्य विकर्म भी विशेष जो ।
जानना अकर्ममें भी गूढ जो कर्मकी गति ॥ १७ ॥

अकर्म कर्ममें देखें तथा कर्म अकर्ममें ।
विज्ञ है वह लोगोंमें योगी वह कृतार्थ भी॥१८॥

जैसे जलाशयके पास रहकर । देखता अपना प्रतिबिंब सुंदर ।
किंतु जानता है निर्भ्रांत होकर । मैं हूं भिन्न ॥ ९६ ॥

या चलता जब नांवमें बैठकर । देखता वृक्षोंका चलना निरंतर ।
किंतु कहता है मनमें सोचकर । वृक्ष होते अचल ॥ ९७ ॥

करता वह सब कामोंमें वास । किंतु मानता यह है आभास ।
अपनेको जानता है सविश्वास । मैं हूं अकर्मी ॥ ९८ ॥

उदयास्त कारणसे होता भान । न चलते ही सूर्य गमन ।
वैसे होता उसे नैष्कर्म्यका ज्ञान । कर्म-रत रहते ॥ ९९ ॥

मनुष्य जैसा ही है वह दीखता । उसमें मनुष्यत्व नहीं रहता ।
वैसे जलमें पढ भी न डूबता । भानुबिंब ॥ १०० ॥

उसने विश्वदेखा कछु न देखते । सब कार्य किया कुछ भी न करते ।
सब भोग किये नहीं कछु भोगते । भोग-मात्र ॥ १ ॥

बैठ कर एक ही स्थल पर । करता रहता है विश्व संचार ।
बना वह विश्वरूप निरंतर । अपनेमें ही ॥ २ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

ऐसे पुरुषमें कहीं । कर्मका तिरस्कार नहीं ।
कर्म फलापेक्षा भी नहीं । छूती कभी ॥ ३ ॥

और मैं यह कर्म करूंगा । किया जो उसे पूर्ण करूंगा ।
ऐसा संकल्प नहीं छूएगा । उसके मनको ॥ ४ ॥

ज्ञानाग्निके ही मुखसे । सारे कर्म जलनेसे ।
ब्रह्म है मनुष्य रूपसे । जान ले तू वह ॥ ५ ॥

उद्योग करता सारे काम संकल्प त्यागके ।
जलाये ज्ञानसे कर्म उसको कहते बुध ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

कर्मयोगीके लक्षण—

शरीरमें जो उदास । फल-भोगमें निरास ।
निरंतर स उल्हास । रहता है ॥ ६ ॥

संतोष-भवनके भोजमें । आत्मयोग मृष्टान्न भोगमें ।
न कहता कभी न मनमें । जान तू पार्थ ॥ ७ ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

नित्य अधिकाधिक प्यारी । ले महासुखकी माधुरी ।
आशाको न्योच्छावर करी । अहंभाव-सह ॥ ८ ॥

तभी जिस अवसरमें जो पाया । उससे ही वह नित है सुखाया ।
उसको अपना और पराया । दोनों नहीं ॥ ९ ॥

दृष्टिसे यह जो देखता । वह है आपही हो जाता ।
जिसको है वह सुनता । बनता वही ॥ १० ॥

पैरसे जो चलता । मुखसे जो बोलता ।
वह जो चेष्टा करता । बनता स्वयं ॥ ११ ॥

नित्य तृप्त निराधार न राखे फल वासना ।
हुआ है लीन कर्मोमें तो भी कुछ करें नहीं ॥ २० ॥

संयमी तजके सारा इच्छा सह परिग्रह ।
देहसे करता कर्म उसे दोष न स्पर्शता ॥ २१ ॥

मिले जो उसमें तुष्ट न जाने द्वंद्व मत्सर ।
फले जले उसे एक करके कर्म-मुक्त जो ॥ २२ ॥

अजी ! वह विश्वमें जब देखता । अपने बिन भिन्न नहीं दीखता ।
उसको अब कौन कहां क्या बंधता । कर्म कैसा ॥ १२ ॥

जहांसे उपजता यह मत्सर । वह द्वैत ही नहीं जहांपर ।
उसको कहना क्या निर्मत्सर । शब्दके लिये ॥ १३ ॥

इसलिये रहता सर्व मुक्त । कर्म करके भी कर्म रहित ।
सगुण होकर भी गुणातीत । निर्भ्रांत जो ॥ १४ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३॥

देह संगमें यदि होता । चैतन्यसा वह दीखता ।
कसौटी पर खरा उतरता । परब्रह्मकी ॥ १५ ॥

ऐसा ही वह सकौतुक । करता कर्म यज्ञादिक ।
मिट जाते सब अशेष । उसीमें सब ॥ १६ ॥

अकालके बादल जैसे । उर्मी बिन मिटते वैसे ।
नभमें सहज भावसे । उदय होके ॥ १७ ॥

वैसे विधि विधान विहित । आचरण करता समस्त ।
तो भी ऐक्य भावसे अद्वैत । पाता वह ॥ १८ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४॥

यह है हवन मैं होता । या यह यज्ञ यह भोक्ता ।
बुध्दिमें ऐसी नही भंगता । इसीलिये ॥ १९ ॥

इष्ट जो यज्ञ यजन । हवि मंत्रादि संपूर्ण ।
आत्म बुध्दिसे दर्शन । अविनाश भावसे ॥ १२० ॥

छूटा संग हुवा मुक्त ज्ञानमें स्थिर चित्त जो ।
यज्ञार्थ करता कर्म हो जाता सब ही लय ॥ २३ ॥

ब्रह्ममें होमके ब्रह्म ब्रह्मने ब्रह्म लक्ष्यके ।
ब्रह्ममें सानके कर्म पाया ब्रह्मत्व ही तब ॥ २४ ॥

तभी ब्रह्म ही उसका कर्म । बोध हुआ ऐसा उसका सम ।
उसका कर्तव्य ही नैष्कर्म्य । धनुर्धर ॥ २१ ॥

जिसका अविवेक कौमार्य गया । औ' विरक्तिसे पाणिग्रहण भया ।
फिर उपासना वहां लाया । योगाग्निसे ॥ २२ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

योगाग्निसे सतत उपासना—

यजनशील है जो दिन-रात । होमते अविद्या मन सहित ।
गुरुवाक्य हुताशनमें नित । किया हवन ॥ २३ ॥

ये हैं योगाग्निमें यजते । इसे दैवयज्ञ हैं कहते ।
इससे आत्म-सुख चाहते । धनंजय ॥ २४ ॥

दैवास्तव देहका पालन । ऐसा निश्चय जिसका पूर्ण ।
जो न सोचता देहाभरण । दैवयोगका महायोगी ॥ २५ ॥

अब सुन तू और एक । जो हैं ब्रह्माग्निमें साग्निक ।
वे यज्ञमें ही यज्ञ देख । करते हैं ॥ २६ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

कर्मयोगीका ब्रह्मयज्ञ—

संयम जिनका अग्नि होत्र । युक्तित्रय ही उनका मंत्र ।
देते इंद्रिय द्रव्य पवित्र । आहुति नित्य ॥ २७ ॥

वैराग्य रविका उदय होते । संयमका यज्ञ कुंड रचते ।
वहां वे प्रज्वलित करते । इंद्रियानल ॥ २८ ॥

कोयी योगी करे मात्र देव यज्ञ उपासना ।
कोयी ब्रह्माग्निमें वैसे जलाते यज्ञ यज्ञसे ॥ २५ ॥

श्रोत्रादि इंद्रियां कोयी होमते संयमाग्निमें ।
कोयी विषय शब्दादि होमते इंद्रियाग्निमें ॥ २६ ॥

उससे विरक्ति ज्वालायें निकलतीं । उसमें विकारोंकी समिधा जलती।
तब हैं आशाकी धुमकडी छूटती । पांचही कुंडोंमें ॥ २९ ॥

फिर वे विधि वाक्यके ही अनुकूल। विषय आहुतियां देकर बहुल।
हवन करते कुंडमें स-कुशल । इंद्रियाग्निके ॥ १३० ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुव्हति ज्ञानदिपिते ॥ २७ ॥

इस भांति कोई पार्थ । दोष धोते हैं सर्वथा।
हृदयारणिमें मंथा । विवेक किया ॥ ३१ ॥

उसे पकड कर निग्रहसे । दबाकर अति धीरजसे।
गुरु उपदेशके जोरसे । रवींचा पार्थ ॥ ३२ ॥

समरसतासे मंथन किया । तत्काल इसका फल आया।
फिर वहां उद्दीपन भया । ज्ञानाग्निका ॥ ३३ ॥

पहला ऋध्दि सिध्दिका संभ्रम । वह निवारण हुआ तो धूम।
फिर वहां प्रकट हुआ सूक्ष्म । विस्फुलिंग ॥ ३४ ॥

उसमें डाला मन मुक्त । यम दमसे जो था रिक्त।
इंधन बना जो सयुक्त । अपने आप ॥ ३५ ॥

उठीं उसमें ज्वालायें समृद्ध । पडी तब वासनाकी समिध।
समता स्नेह-युत नाना विध । जलनेमें ॥ ३६ ॥

वहां सोऽहं मंत्रसे दीक्षित । इंद्रिय कर्मकी आहुति नित।
देना ज्ञानानलमें प्रदीप्त । यज्ञ-कुंडमें ॥ ३७ ॥

फिर प्राण क्रियाकी सुवासे । यज्ञमें पड़ी पूर्णाहुतिसे।
होता अवभृत सहजतासे । समरसका ॥ ३८ ॥

प्राणेंद्रिय क्रिया कोयी सभी आहुति देकर ।
अंतरमें समाधिको जगाते चिंतनाग्निसे ॥ २७ ॥

तब है आत्म-बोधका सुख । जो संयमाग्निका हुत-शेष ।
वही पुरोडासु किया देख । सहज सेवन ॥ ३९ ॥

ऐसे यज्ञ-कार्यसे अनेक । मुक्त हुए त्रिभुवनमें देख।
यहां यज्ञ क्रियायें हैं अनेक । प्राप्तव्य एक ॥ १४० ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कर्मयोगीके विविध यज्ञ—

एक द्रव्य यज्ञ कहलाता । दूजा तप उत्पन्न करता ।
तथा योगयाग ही बनता । ऐसा है कहा ॥ ४१ ॥

जिसमें शब्दमें शब्द यजना । उसको वाग्यज्ञ है कहना ।
जिसमें ज्ञानसे ज्ञेयकी जानना । वह है ज्ञानयज्ञ ॥ ४२ ॥

अर्जुन यह सब कठिन । अनुष्ठानका महा-बंधन ।
किंतु जितेंद्रियको आसान । योग्यता रूप ॥ ४३ ॥

यहां है जो प्रवीण । योग समृध्दि संपन्न ।
किया आत्म-हवन । अपनेसे ॥ ४४ ॥

अपाने जुव्हति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपानाग्निके मुखमें फिर । प्राण द्रव्यको अर्पण कर ।
हवन करते हैं धनुर्धर । अभ्यास-योगसे ॥ ४५ ॥

कोई अपानको प्राणमें होमते । या प्राणापानका निरोध करते ।
ये प्राणायामी है कहलाते । पांडुकुमार ॥ ४६ ॥

द्रव्य जप तप योग स्वाध्याय और चिंतन ।
संयमी करते यज्ञ रखके व्रत उग्र जो ॥ २८ ॥

होमते परस्परमें कोयी प्राण अपानको ।
रोकते गति दोनोंकी प्राणायाम परायण ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

या वज्रयोगक्रमसे । सर्वाहार संयमसे ।
प्राणमें प्राणार्पणसे । हवन करते ॥ ४७ ॥

ऐसे मोक्ष काम सकल । सारे हैं ये यजनशील ।
यज्ञसे जिन्होंने मनोमल । किया क्षालन ॥ ४८ ॥

जिसका जला अविद्या जात । रहा जो निज स्वभावगत ।
जहां अग्नि औ' होताका द्वैत । रहा नहीं ॥ ४९ ॥

यहां यजित होता काम हत । यज्ञका विधान होता समाप्त ।
जहांसे फिर सारे क्रिया-जात । होते नष्ट ॥ १५० ॥

विचार यहां नहीं घुसता । यहांसे न हेतु निकलता ।
द्वैत जो संग-दोषसे होता । स्पर्शता नहीं ॥ ५१ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

अनादि सिद्ध जो ऐसा ज्ञान । यज्ञमें जो बचता पावन ।
ब्रह्म-निष्ठ करते सेवन । स-ब्रह्ममंत्र ॥ ५२ ॥

शेषामृतसे जो तृप्त । अमर्त्य भावको प्राप्त ।
ऐसे ब्रह्मत्वमें पूर्त । अनायाससे ॥ ५३ ॥

जिन्हें माला न पडती विरक्तिकी । सेवा नहीं घडती संयमाग्निकी ।
पहचान न होती योग-यागकी । जन्म लेकर ॥ ५४ ॥

जिनका नहीं ऐहिक नेक । बात क्या कहें पार-लौकिक ।
बात कहना है व्यर्थ देख । धनंजय ॥ ५५ ॥

प्राणमें होमते प्राण आहार कर निश्चित ।
सभी ये हैं यज्ञ-वेत्ता जलाते पाप यज्ञसे ॥ ३० ॥

यज्ञ-शेष-सुधा भोजी पाते हैं ब्रह्म शाश्वत ।
यज्ञ विना न यहां तो कहांका परलोक है ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

अनेक प्रकारके ऐसे । याग कहे हैं तुझसे ।
वेदमें अति-विस्तारसे । कहे हैं सब ॥ ५६ ॥

विस्तारसे क्या है जानना । इसे कर्म सिद्ध अनुभवना ।
कर्म-बंधसे मुक्त होना । स्वभावसे ॥ ५७ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

कर्मयोगीके विविध यज्ञोंकी तुलना-

जिसका है वेद मूल । क्रिया विशेष है स्थूल ।
उसका अपूर्व फल । स्वर्ग-सुख है ॥ ५८ ॥

द्रव्ययाग होते हैं तो श्रेष्ठ । किंतु ज्ञान यज्ञसे कनिष्ठ ।
जैसे तारा-तेज होता नष्ट । सूर्यके सम्मुख ॥ ५९ ॥

परमात्म-सुख निधान । साधनेमें है योगीजन ।
डालते नित ज्ञानांजन । उन्मेष-नेत्रमें ॥ १६० ॥

कर्मयोग समाप्तिका जो स्थान । नैष्कर्म्य बोधकी है खान ।
क्षुधार्तिको है अमृतान्न । साधनाका ॥ ६१ ॥

जहां प्रवृत्ति पंगु होती । तर्क-दृष्टि अंधी होती ।
इंद्रियां सब भूल जाती । विषय संग ॥ ६२ ॥

मिटता ममत्व मनका । औ' शब्दत्व शब्द मात्रका ।
जिसमें मिलता ज्ञानका । ज्ञेय मात्र ॥ ६३ ॥

नाना प्रकारके ऐसे वेदोंमें यज्ञ जो कहे ।
कर्मसे निकले जान पायेगा मुक्ति जानके ॥ ३२ ॥

ज्ञान-यज्ञ सदा श्रेष्ठ जानना द्रव्य-यज्ञसे ।
समाते हैं सभी कर्म ज्ञानमें पूर्ण रूपसे ॥ ३३ ॥

मिटता दारिद्र्य वैराग्यका । टूटता हव्यास विवेकका ।
मिलन होता जहां आत्माका । सहज भावसे ॥ ६४ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

ज्ञान प्राप्तिका साधन—

अजी ! वह जो उत्तम ज्ञान । प्राप्त करना हो तो महान ।
करना है संतोंका भजन । सर्व भावसे ॥ ६५ ॥

वे हैं इस ज्ञानका घर । सेवा उसका महाद्वार ।
सेवासे ही पांडुकुमार । पाना है उसे ॥ ६६ ॥

अजी ! तन मन प्राणसे । लगना उन चरणसे ।
करना निराभिमानसे । सकल दास्य ॥ ६७ ॥

पूछके तब इच्छित प्रश्न । पाना है उनसे वह ज्ञान ।
उस बोधसे अंतःकरण । होगा कामना रहित ॥ ६८ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

वाक्य प्रकाशसे उनके । मिटेंगे संशय चित्तके ।
तब होगा ब्रह्म रूपके । ज्ञान निश्चित ॥ ६९ ॥

फिर अपने सहित । अन्य सभी भूत जात ।
मेरे रूपमें अखंडित । देखेगा तू ॥ १७० ॥

ऐसा ज्ञान प्रकाश पायेगा । मोह-अंधकार दूर होगा ।
जब गुरु-कारुण्य होगा । धनुर्धर ॥ ७१ ॥

सेवा द्वारा नम्रतासे जान ले ज्ञान प्रश्नसे ।
देंगे अनुभवी संत सत्वज्ञ ज्ञान-तत्व जो ॥ ३४ ॥

जान कर वह ऐसा न होगा भ्रांत तू कभी ।
मुझमें और आत्मामें देखके जीव-मात्रको ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

ज्ञानकी महानता—

यदि है आगर पापका । महासागरही है भ्रांतिका ।
हिमालय ही है व्यामोहका । तो भी पार्थ ॥ ७२ ॥

इस ज्ञान शक्तिके सम्मुख । यह सब कुछ नहीं देख ।
उसका सामर्थ्य है विशेष । ज्ञानका यहां ॥ ७३ ॥

निरास है विश्व भ्रमका । विस्तार है जो अमूर्तका ।
प्रकाश भी यहां उसका । अपर्याप्त ॥ ७४ ॥

उसकेलिये क्या मनोमल । बोलनेमें भी तुच्छसा बोल ।
उसके सम्मुख तुल्य बल । नहीं विश्वमें ॥ ७५ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

अजी ! धूलको जो भुवनत्रयकी । गगनमें उडानेवाली आंधिकी ।
रुकावट होगी कैसी बादलकी । कह तू धनंजय ॥ ७६ ॥

अथवा पवनसे जो प्रक्षुब्ध । प्रलयाग्नि करता जलको दग्ध ।
होगा क्या वह कहो अवरुद्ध । तृणकाष्ठसे ॥ ७७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

पापियोंमें महा पापी होगा यदि शिरोमणि ।
तो भी तू ज्ञान-नौकासे तरेगा पाप-सागर ॥ ३६ ॥

संपूर्ण जलती आग करती राख काष्ठको ।
वैसे ज्ञानाग्नि है सारा जलाता सर्व कर्मको ॥ ३७ ॥

ज्ञान सम न है अन्य पवित्र जगमें कुछ ।
योग-युक्त यथा काल पाये जो निजमें स्वयं ॥ ३८ ॥

असंभव है ऐसा होना । अशक्य है ऐसा सोचना।
जगतमें ज्ञान समान । पवित्र नहीं कछु ॥ ७८ ॥

ज्ञान यहां अति उत्तम है । ऐसा क्या अन्य समान है।
ज्ञान जो महा चैतन्य है । विश्वमें ॥ ७९ ॥

इस महातेज पे कसनेसे । निर्मल है यह सूर्य बिंबसे।
समेटलें यह समेटनेसे । आकाशको भी ॥ १८० ॥

या तौलकर देखनेमें । इस पृथ्वीकी तुलनामें ।
यदि कुछ है तो विश्वमें । ज्ञान ही है ॥ ८१ ॥

बहुविध विचारनेसे । पुनः पुनः सोचनेसे ।
पवित्र यहां ज्ञानसे । ज्ञान ही है ॥ ८२ ॥

खोजनेसे अमृतका रस जैसा । अमृतमें ही मिलता है वैसा।
ज्ञानके समान ज्ञान ही वैसा । जानना पार्थ ॥ ८३ ॥

इस पर है अब बोलना । व्यर्थका है समय बिताता ।
सच कहता सुन अर्जुन । जो कहा तूने ॥ ८४ ॥

उस ज्ञानको तब कैसे जानना । अर्जुनके मनमें यह पूछना ।
जानकर उसकी मनो कामना । कहा अच्युतने ॥ ८५ ॥

फिर कहता है किरीटी । चित दे सुन यह गोष्टी ।
कहता हूँ ज्ञानकी भेटी । होगी कैसी ॥ ८६ ॥

श्रध्दावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

आत्म-सुखकी माधुरीसे । उकताता है विषयोंसे।
इंद्रियोंका कभी उनसे । न होता भाव ॥ ८७ ॥

मनमें जो चाह नहीं धरता । प्रकृति कर्मको न स्वीकारता ।
सुख रूप होकरके रहता । श्रद्धा भोगमें ॥ ८८ ॥

श्रद्धालु ज्ञान पाता है संयमी नित्य सावध ।
ज्ञानसे शीघ्र पाता है शांति अंतिम पावन ॥ ३९ ॥

ज्ञान है जो चिर वांछित । मिले वह उसे निश्चित ।
जिसमें होती अचुंबित । शांति-सुख ॥ ८९ ॥

हृदयमें जब ज्ञान होता । तब शांति-अंकुर फूटता ।
उससे विस्तार प्रकटता । आत्मबोधका ॥ १९० ॥

फिर जहां देखे वहां । सर्वत्र ही जहां तहां ।
न दीखे तीर है कहां । शांति सिंधुका ॥ ९१ ॥

ऐसा यह उत्तरोत्तर । ज्ञान बीजका है विस्तार ।
कहा है उसको अपार । धनंजय ॥ ९२ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

संदेह विनाशका घर है—

जिन प्राणियोंमें ज्ञानकी । चाह नहीं वह पानेकी ।
क्या कहें ऐसे जीवनकी । उससे भली मौत ॥ ९३ ॥

शून्य है जैसे गृह । या प्राण विनु देह ।
है जीवित सम्मोह । ज्ञानके बिन ॥ ९४ ॥

हुआ नहीं प्राप्त वह ज्ञान । चाह करता पानेका मन ।
तब है आशा यह तू जान । पानेकी वह ॥ ९५ ॥

किंतु बात है कैसे ज्ञानकी । आस्था नहीं मनमें उसकी ।
तो पड़ा है संदेह रूपकी । अग्निमें वह ॥ ९६ ॥

जब अमृत भी नहीं भाता । ऐसा आस्वाद-स्वभाव होता ।
तभी जानना मरण आता । निकट सत्वर ॥ ९७ ॥

विषय सुखमें जो है रंगता । ज्ञानसे नित विमुख रहता ।
निश्चय ही संशयमें पड़ता । जानना वह ॥ ९८ ॥

न है ज्ञान न है श्रद्धा संशयीका विनाश है ।
दोनों ही लोकमें पार्थ न पाता सुख संशयी ॥ ४० ॥

डूबा यदि संशय सागरमें । नष्ट हुआ निश्चित जीवनमें।
वंचित हुआ इह औ' परमें । सुखसे वह ॥ ९९ ॥

किसीको जब कालज्वर आता । वह जैसे शीतोष्ण न जानता।
जैसे वह चांदनी औ' उष्णता । मानता एक-सा ॥ २०० ॥

वैसे वह जो सत औ' असत । अनुकूल औ' प्रतिकूल बात।
नहीं जानता हित औ' अहित । संशयग्रस्त जो ॥ १ ॥

यह है दिवस औ' यह रात । जन्मांध न जानता यह बात।
वैसे ही होता है संशयग्रस्त । मनमें सदा ॥ २ ॥

तभी संशयसे भयंकर । अन्य नहीं पाप कोई घोर।
वह है विनाशका भंवर । प्राणियोंका ॥ ३ ॥

इस कारणसे तुझे तजना । पहले इस बातको जानना।
ज्ञानाभावमें इसका रहना । जान निश्चित ॥ ४ ॥

पड़ता अज्ञानका गहरा अंधार । बढ़ता यह चितमें अपरंपार।
जिससे है पथावरोध धनुर्धर । श्रद्धाका सदा ॥ ५ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

ज्ञान खड्ग—

हियमें ही यह नहीं समाता । बुध्दि पर भी पर्दा डालता।
जिससे संशयात्मक हो जाता । भुवन-त्रय ॥ ६ ॥

इतना है इसका बडप्पन । उसे जीवनका एक साधन।
यदि करमें होता है महान । ज्ञान खड्ग ॥ ७ ॥

उस तीखे ज्ञान खड्गसे । मिटता यह मूल रूपसे।
मल होता मनका जिससे। सदा निर्मूल ॥ ८ ॥

योगसे छांटके कर्म ज्ञानसे छिन्न संशय ।
जो सावधान आत्मामें उसे कर्म न बांधते ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इस कारणसे तू पार्थ । नष्ट करके हृदयस्थ ।
संशय अब सर्वथा । ऊठ सत्वर ॥ ९ ॥

ऐसा सर्वज्ञोंका बाप । श्रीकृष्ण जो ज्ञानदीप ।
कहता वह सकृप । सुनो राजन् ॥ २१० ॥

कथा यह पूर्वापर । अर्जुन विचारकर ।
पूछेगा प्रश्न सत्वर । समयोचित ॥ ११ ॥

उस कथाकी संगति । भावकी है संपत्ति ।
उसकी है उन्नति । कहेगा हरि ॥ १२ ॥

उसकी उत्तमता पर । आठो रस हैं न्योच्छावर ।
वह है सज्जनोंका घर । आसरेका ॥ १३ ॥

प्रकट करेगा शांति-रस निर्मल । है वह महासागरसे भी खोल ।
मेरी देश-भाषाका अनमोल बोल । अर्थपूर्ण ॥ १४ ॥

बिंब दीखता है हथेली समान । प्रकाशमें ओछा होता त्रिभुवन ।
अनुभवना ऐसी व्याप्ति महान । शब्दार्थकी ॥ १५ ॥

अजी ! कामितार्थकी जो आशा । फलती कल्पवृक्षमें जैसा ।
बोल हैं अति व्यापक ऐसा । सुननाजी ॥ १६ ॥

रहने दो अब है क्या कहना । सर्वज्ञ जानते मनो कामना ।
फिर भी करता नम्र प्रार्थना । सुनना चित्त देके ॥ १७ ॥

यहां साहित्य तथा शांति । वैसे रेखा शब्द पद्धति ।
जैसे लावण्य गुण कुलवति । तथा पतिव्रता ॥ १८ ॥

पहले ही प्रिय है शक्कर । मिलती पथ्यके नाम पर ।
खाना या न खाना बात फिर । रहती कहां ? ॥ १९ ॥

तभी हृदयका सारा अज्ञान-कृत संशय ।
ज्ञानके खड्गसे तोड ऊठ तू योग साधके ॥ ४२ ॥

मलयानिलय मंद सुगंध । उसमें मिला अमृतका स्वाद ।
उसके साथ हो सुस्वर नाद । दैव-गतिसे ॥ २२० ॥

स्पर्शसे सर्वांग शांत करता । माधुरीसे रसनाको नचाता ।
श्रवणेंद्रियसे है कहलाता । भला भला ॥ २१ ॥

वैसे है इस कथाका सुनना । कानोंका है प्रसन्न होना ।
संसार-दुःखका मूलता होना । उच्चाटन ही ॥ २२ ॥

मंत्रसे यदि शत्रु मरता । कौन तलवार बांधता ।
दूध मधुसे रोग जाता । कौन पीवे नीम ॥ २३ ॥

वैसे मनको न मारते । इंद्रियोंको न सताते ।
अनायास ही मोक्ष पाते । श्रवण-मात्रसे ॥ २४ ॥

सुन सब हो प्रसन्न मन । करके गीतार्थका चिंतन ।
ज्ञानदेवका यह वचन । जो है निवृत्तिका दास ॥ २२५ ॥

गीता श्लोक ४२

ज्ञानेश्वरी ओवी २२५

५

कर्म-संन्यासयोग

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

पार्थका प्रश्न, कर्म-संन्यास या कर्म-योग—

पार्थ कहता फिर श्रीकृष्णसे । आपका बोलना यह भी कैसे।
एक हो तो अंतःकरणसे । सोचे उसको ॥ १ ॥

पहले कहा संन्यास कर्मका । तूने किया था निरूपण उसका ।
अब कहता अतिशय कर्मका । कैसे अनंत ॥ २ ॥

कैसी यह दो अर्थकी बात । हमारा अज्ञानियोंका चित्त ।
अपने आप कहे अनंत । समझेगा कैसे ॥ ३ ॥

सार तत्वको कहना । एक निष्ठासे बोलना ।
और क्या कहूं कहना । तुझसे अब ॥ ४ ॥

तभी कहा मैंने तुझसे । प्रभुजनोंसे विनयसे ।
परमार्थको द्वि-अर्थसे । कहना तहीं ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा

कहता कर्म-संन्यास वैसे ही योग भी कभी ।
दोनोंमें जो भला एक कह तू मुझ निश्चित ॥ १ ॥

हुआ जो वह जाने देना । अबकी यह सुलझा देना ।
इन दोनोंमें अब बताना । मार्ग उत्तम ॥ ६ ॥

अन्त है जिसका मंगल । निश्चित है जिसका फल ।
अनुष्ठानमें जो सकल । शुद्ध सहज ॥ ७ ॥

जिसमें न होता नींदका भंग । किंतु कटता प्रवास मारग ।
ऐसा सुखासनसा सुभग । तथा सरल ॥ ८ ॥

अर्जुनके इस वचनसे । रीझे हरि अंतःकरणसे ।
फिर कहा अति संतोषसे । ऐसा ही होगा ॥ ९ ॥

माय जो कामधेनुसी । रहती साथ छायासी ।
मांगनेसे चंदा भी जैसी । देती खेलने ॥ १० ॥

शंभुने प्रसन्न चित्त । उपमन्युको जो आर्त ।
दिया जैसा दूध भात । क्षीराब्धी ही ॥ ११ ॥

वैसा सागर जो औदार्यका । सखा बना आप अर्जुनका ।
क्यों न हो तब सर्व सुखका । वसति-स्थान वह ॥ १२ ॥

इसमें क्या है कौतुक । लक्ष्मीकांत है मालिक ।
तो क्यों न मांगे ऐच्छिक । वरदान ॥ १३ ॥

मांगा था जो अर्जुनने । "दिया" कहा श्रीकृष्णने ।
कहा क्या तब हरिने । वही कहूंगा ॥ १४ ॥

भगवान उवाच
संन्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर—

हरि कहे सुन कुंती-सुत । विचार करने पर चित्त ।
संन्यास योग दोनों तत्वतः । हैं मोक्ष-दायक ॥ १५ ॥

श्रीभगवानने कहा

कर्म-संन्यास औ' योग एक-से मोक्ष-दायक ।
किंतु संन्याससे माना कर्म-योग विशेष है ॥ २ ॥

किंतु जान अनजानको सकल । आचरणमें कर्मयोग सरल।
जैसे स्त्री बालक भी नांवके बल । तैरते सागर ॥ १६ ॥

सरासरी विचारनेसे । मार्ग यह सरल ऐसे।
संन्यास फल मिले इससे । अनायास ॥ १७ ॥

करूंगा अब कथन । संन्यासका जो लक्षण।
सहज हैं ये अभिन्न । जानेगा तू ॥ १८ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

नैष्कर्म्यका अर्थ आलस्य नहीं—

गतको जो भुलाना । प्राप्तव्यको तजना।
मेरु-सा स्थिर होना । अंतरमें ॥ १९ ॥

मैं मेरा ऐसा सब स्मरण । भूला जिसका अंतःकरण ।
उसीको तू संन्यासी जान । निरंतर ॥ २० ॥

मनसे जो ऐसा हुवा । संगसे सदा मुक्त हुआ ।
जिसको है प्राप्त हुआ । शाश्वत सुख ॥ २१ ॥

गृह आदिका तब पूर्ण । तजनेका नहीं कारण ।
आसक्त स्वभावका मन । हुआ असंग ॥ २२ ॥

आग जब बुझ जाती । केवल राख रहती ।
कपास भी लपेटती । वैसे ही ॥ २३ ॥

रहकर भी उपाधिमें । न पड़ता कर्म-बंधमें ।
न रहा जिसकी बुद्धिमें । संकल्प बीज ॥ २४ ॥

कल्पनाका साथ जब टूटता । तभी संन्यास सहज बनता ।
इससे दोनों एक हो जाता । कर्म औ' संन्यास ॥ २५ ॥

जानो जो नित्य संन्यासी राग-द्वेष नहीं जिसे ।
द्वंद्वसे दूर जो होता सुखसे बंध-मुक्त भी ॥ **३** ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

नहीं तो सुन पार्थ । हैं जो मूर्ख सर्वथा ।
वे सांख्य कर्म संस्था । जानेंगे कैसे ॥ २६ ॥

स्वभावसे जो अज्ञान । तभी कहते है भिन्न ।
एकेक दीपका भिन्न । प्रकाश होता क्या ? ॥ २७ ॥

करके एकका आचरण । अनुभव किया है संपूर्ण ।
कहतें हैं अनुभव ज्ञान । दोनोंका एक ॥ २८ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

सांख्यसे जो मिलता । योगसे वही प्राप्त होता ।
तभी है दोनोंमें एकता । सहज भावसे ॥ २९ ॥

देख आकाश औ' अवकाश । जिसमें भेद नहीं है जैसा ।
योग तथा संन्यास भी ऐसा । है अभिन्न ॥ ३० ॥

जिसने सांख्य योग अभिन्न । देखा है उसको हुवा ज्ञान ।
उसने आत्मरूप दर्शन । किया सहज ॥ ३१ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

है जो युक्त पंथसे पार्थ । चढते हैं मोक्ष पर्वत ।
महा सुखका वे निश्चित । पायेंगे शिखर ॥ ३२ ॥

सांख्य औ' योग है भिन्न कहते अज्ञ-लोग जो ।
दोनोंमें एकसी निष्ठा दोनोंका फल एक है ॥ ४ ॥

पाते हैं स्थान जो सांख्य योगीको मिलता वह ।
दोनोंका एक ही रूप देखे जो जानता वह ॥ ५ ॥

योगके बिन संन्यास सुखसे मिलता नहीं ।
मुनि जो योगसे युक्त पाता है शीघ्र ब्रह्मको ॥ ६ ॥

जो यह योग स्थिति है तजता । व्यर्थ ही उलझनमें पड़ता ।
उससे प्राप्त कभी नहीं होता । सन्यास साध्य ॥ ३३ ॥

योगयुक्तो विशुध्दात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

संकल्पशून्य मन चैतन्यमय हो, सर्वव्यापी बनता है—

जिसने भ्रांतिसे है छुडालिया । गुरुवाक्यसे मनको धो दिया ।
आत्म रूपमें फिर ढाल दिया । घुलकर ॥ ३४ ॥
सागरमें जब नून गिरता । तब तक वह अल्प रहता ।
फिर वह समुद्रसा बनता । विलीन होकर ॥ ३५ ॥
वैसे तो संकल्पसे हुआ भिन्न । चैतन्य रूप हुआ उसका मन ।
सीमित होकर भी तनसे मन । व्यापता लोकत्रय ॥ ३६ ॥
कर्ता कर्म फिर काज । कटा जिसका सहज ।
अनुभवता वह सहज । अकर्तापन ॥ ३७ ॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

जिसका मन अर्जुन । मैं देह हूं यह भान ।
भूला उसे न रहा जान । कर्तापन कछु ॥ ३८ ॥

चित्तसे शुद्ध जो योगी जीतके मन इंद्रिय ।
बना है जीव भूतोंका करके भी अलेप जो ॥ ७ ॥
मानके अकर्ता आप योगी तत्वज्ञ जो नित ।
देखें सुने छुये सूंघे खाये सुवे चले करे ॥ ८ ॥
बोले छोडे पकडे या हिलावे बरुनी यदि ।
इंद्रिया करती आप अपना कर्म जानता ॥ ९ ॥

तन त्यागके बिन । अमूर्तके जो गुण ।
दीखते हैं संपूर्ण । योग-युक्तमें ॥ ३९ ॥

वैसे उसका भी होता शरीर । अन्योंकी भाँति करता व्यापार ।
एक जैसा सबका व्यवहार । उसका भी ॥ ४० ॥

वह भी आंखोंसे देखता । वैसे ही कानसे सुनता ।
किंतु वह लिप्त न होता । उसमें कभी ॥ ४१ ॥

यदि वह सबको स्पर्शता । घ्राणसे परिमल भी लेता ।
समयोचित वह बोलता । सबके भाँति ॥ ४२ ॥

आहारको स्वीकारता । तजना जो तजता ।
निद्रा समयमें सोता । सुखसे वह ॥ ४३ ॥

अपनी ही इच्छासे । वह चलता जैसे ।
सकल कर्म वैसे । चलते हैं ॥ ४४ ॥

यह कहना क्या एकेक । देखें श्वासोच्छ्वासादिक ।
वैसे ही निमिषोन्मिष । आदि सब ॥ ४५ ॥

पार्थ वह सब करता । कोई कर्म नहीं छोडता ।
किया ऐसा बोध न होता । प्रतीतिसे ॥ ४६ ॥

भ्रांतिकी सेज पर जो सोया था । स्वप्न रंजनमें जो उलझा था ।
ज्ञानोदयसे वह है जगा था । इसीलिये ॥ ४७ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥

चैतन्यके आश्रयसे सब । इंद्रियोंकी वृत्तियां सब ।
बरतती हैं अपने तब । स्वभावसे ॥ ४८ ॥

जैसे दीपकके प्रकाशसे । व्यापार होते घरके जैसे ।
चलते शरीर कर्म वैसे । योगयुक्तके ॥ ४९ ॥

ब्रह्मार्पित करे कर्म करता संग छोड़के ।
न होता पापसे लिप्त जलमें पद्म-पत्रसा ॥ १० ॥

सभी कर्म है वह करता । कर्म बंधनमें नहीं आता ।
जैसे पानीमें नहीं भीगता । पद्मपत्र ॥ ५० ॥

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिंद्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वंति संगं त्यक्त्वाऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

कर्मकी विविधता-विवेचन—

जो बुद्धिकी भाषा नहीं जानता । मनमें अंकुर नहीं फूटता ।
ऐसा व्यापार जो तनसे होता । वह शरीर कर्म ॥ ५१ ॥
इसीको स्पष्ट रूपसे कहता । जैसा बालकका कर्म है होता ।
योगीका कर्म वैसे ही रहता । केवल तनसे ॥ ५२ ॥

जब पंच भौतिक तन । रहता है निद्रामें लीन ।
कार्य करता तब मन । स्वप्न रूपमें ॥ ५३ ॥

आश्चर्य देख तू धनुर्धर । कितना है वासना विस्तार ।
देहको नहीं होता जागर । भोगता सुख दुःख ॥ ५४ ॥

इंद्रियोंका स्पर्श भी न करता । ऐसा व्यापार जो होता रहता ।
वह केवल कर्म कहलाता । मनका ही ॥ ५५ ॥

वह कर्म भी योगी करता । किंतु उससे बद्ध न होता ।
उसका साथ छूटा रहता । अहंकारसे ॥ ५६ ॥

जैसे होता है भ्रम हत । पिशाच स्पर्शसे जो चित्त ।
करता इंद्रियां चेष्टित । विकल रूपसे ॥ ५७ ॥

रूप भी है वह देखता । कानसे भी वह सुनता ।
शब्द भी है वह बोलता । पर बेभान हो ॥ ५८ ॥

यह जो है बिन प्रयोजन । जो कुछ वह करता जान ।
वह केवल कर्म है मान । इंद्रियोंका ॥ ५९ ॥

केवल इंद्रियोंसे या शरीर मन बुद्धिसे ।
आत्म-शुध्यर्थ ही योगी करे कर्म असंग हो ॥ ११ ॥

सर्वत्र फिर जाननेका । कार्य रहता जो बुद्धिका ।
यह कथन है हरिका । अर्जुनसे ॥ ६० ॥

बुध्दिको आधार मानकर । कर्म करते चित्त देकर ।
किंतु वे नैष्कर्म्यसे पर । मुक्त दीखते ॥ ६१ ॥

बुध्दिसे तन तक कहीं । अहंकारका चिन्ह भी नहीं ।
वे कर्म करके ही वहीं । शुद्ध रहते ॥ ६२ ॥

कर्तृत्वभाव बिन कर्म । होता वही सही निष्कर्म ।
जानते ये उसका वर्म । गुरु-गम्य जो ॥ ६३ ॥

नैष्कर्म्य भावका दर्शन—

शांति-रसका अब पूर । छलके पात्रके ऊपर ।
बोल जो वाणीसे भी पर । होते हैं व्यक्त ॥ ६४ ॥

पराधीनता इंद्रियोंकी । मिटी है संपूर्ण जिनकी ।
सुननेमें योग्यता उनकी । मानना यहां ॥ ६५ ॥

रहने दो अति प्रसंग । न छोडो जी कथाका संग ।
होगा श्लोक संगति भंग । इसीलिये ॥ ६६ ॥

अनाकलन जो मनसे । प्रज्ञा-घर्षण करनेसे ।
वही मुझे दैव कृपासे । हुआ सहज ॥ ६७ ॥

स्वभावसे जो शब्दातीत । आया शब्दके अंतर्गत ।
औरोंकी रही क्या है बात । क्या कहो ॥ ६८ ॥

आग्रह विशेष श्रोताओंका । जानकर दास निवृत्तिका ।
कहता है संवाद दोनोंका । सुनो ध्यानसे ॥ ६९ ॥

कहता है कृष्ण अर्जुनसे । प्राप्तोंका लक्षण होता कैसे ।
कहता तुम्हें पूर्ण रूपसे । सुनो चित्त देकर ॥ ७० ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

फलको तजके योगी पाता है शांति निश्चल ।
अ-योगी फलका भोगी वासनामें फंसा रहा ॥ १२ ॥

संपन्न होता जो आत्म योगसे । उदासीन कर्म फल भोगसे ।
रमती शांति सदैव उससे । अपने आप ॥ ७१ ॥

अर्जुन जो कर्म बंधसे । अभिलाषाकी ही डोरीसे ।
बांधा जाता है खूंटेसे । फल भोगके ॥ ७२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

करता जैसे फलकामनासे । सभी कर्म वह करता वैसे ।
करता है फिर पूर्ण रूपसे । उपेक्षा उसकी ॥ ७३ ॥

जिस ओर उसकी दृष्टि । होती वहां सुखकी सृष्टि ।
जहां वह कहता वृष्टि । होती महा-बोधकी ॥ ७४ ॥

नवद्वारके देहमें जैसे । रहकर न रहता वैसे ।
करके सब न करे वैसे । रहे फलत्यागी ॥ ७५ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

निष्काम कर्मयोगीकी महानता—

होता है जैसे सर्वेश्वर । जब चाहे तब निर्व्यापार ।
करता वही सब विस्तार । त्रिभुवनका ॥ ७६ ॥

कहें यदि उसको कर्ता । कर्ममें वह न डूबता ।
हाथ पैर लिप्त न होता । उदास वृत्तिसे ॥ ७७ ॥

योग-निद्राका भंग न होता । अ-कर्तापन नहीं मलता ।
दलभार जो खड़ा करता । महाभूतोंका ॥ ७८ ॥

मनसे छोड़के कर्म सुखसे संयमी सभी ।
नौ द्वार पुरमें देही कराता करता नहीं ॥ १३ ॥
नहीं कर्तृत्व लोगोंका न कर्म सृजता प्रभु ।
न कर्म-फल संयोग होता सब स्वभावसे ॥ १४ ॥

सबके जीवनमें जो बसता । किंतु किसीका कोई न होता ।
विश्व बनता औ' उजाड़ता । उसका कुछ नहीं ॥ ७९ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽवृत्तंज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः ॥ १५ ॥

अशेष पाप पुण्य उसके । समीप रहते हैं विश्वके ।
किंतु साक्षी न होता उसके । अन्य बात क्या ॥ ८० ॥

वह रहता मूर्तिके साथ । मूर्ति रूप होकर सतत ।
किंतु न मलता रूप अमूर्त । उस पुरुषका ॥ ८१ ॥

पालता वह सृजता संहारता । चराचर सब है यही बोलता !
सुन तू यह अज्ञान ही है पार्थ । सबका यहां ॥ ८२ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

अज्ञान यह समूल टूटता । भ्रांतिका तम भी है दूर होता ।
फिर अकर्तृत्व प्रकट होता । ईश्वरका ॥ ८३ ॥

ईश्वर है यहां एक अकर्ता । तब चित्त यदि ऐसा मानता ।
तब वही मैं यह स्वभावता । आदिसे हूँ ॥ ८४ ॥

होता जब ऐसा विवेक चित्तमें । उसको भेद कैसा त्रिभुवनमें ।
देखता अपने ही अनुभवमें । विश्व है मुक्त ॥ ८५ ॥

सूर्योदय होता पूर्व दिशामें । प्रकाश होता दश दिशामें ।
उस समय किसी दिशामें । तम न रहता ॥ ८६ ॥

किसीका भी न लें पाप वैसे ही पुण्य भी प्रभु ।
अज्ञानसे ढका ज्ञान इससे जीव मोहित ॥ १५ ॥

हुवा अज्ञानका नाश जिनका आत्म ज्ञानसे ।
स्वच्छ दीपे पर-ब्रह्म मानो सूर्य-प्रकाश है ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

बुध्दिनिश्चयसे हो आत्मज्ञान । अपनेको ब्रह्म स्वरूप मान ।
ब्रह्मनिष्ठासे है तत्परायण । रहता दिनरात ॥ ८७ ॥

ऐसा भला व्यापक ज्ञान । जिनके हियमें पायास्थान ।
उनकी सम-दृष्टिका वर्णन । विशेष कैसे ॥ ८८ ॥

देखते अपने को जैसे । विश्वको देखते हैं वैसे ।
सहज कहनेमें इसे । आपत्ति क्या ॥ ८९ ॥

दैव जैसे लीलासे । न देखें दैन्य जैसे ।
न जाने विवेक जैसे । भ्रांतिको ॥ ९० ॥

अथवा अंधःकारका प्रकार । न देखता स्वप्नमें भी भास्कर ।
न आती अमृतके कान पर । मृत्युवार्ता ॥ ९१ ॥

जाने दो संताप है कैसा । न जानता चंद्र वैसा ।
ज्ञानी भी प्राणियोंमें वैसा । न जाता भेद ॥ ९२ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

यह है झींगुर यह गज । या यह चांडाल यह द्विज ।
या वह अन्य यह आत्मज । यह रहे कैसे ॥ ९३ ॥

या वह धेनु औ' यह श्वान । एक महान औ' दूजा हीन ।
इसका स्वप्नमें भी न भान । जगनेमें कैसे ॥ ९४ ॥

जहां है अहंकार भाव । वहीं है द्वैतका संभव ।
जहां अहंका ही अभाव । वहां विषमता कैसी ॥ ९५ ॥

बुध्दि निश्चय निष्ठाको उसीमें कर अर्पित ।
नहीं लेते पुनः जन्म ज्ञानसे पाप धो कर ॥ १७ ॥

विद्या विनय संपन्न द्विज गाय तथा गज ।
श्वान चांडाल जो सारे तत्वज्ञ सम देखते ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

इसीलिये सर्वत्र सदा सम । आप ही है जो आद्य ब्रह्म ।
जानकर यह संपूर्ण वर्म । समदृष्टिका ॥ ९६ ॥

विषय संग नहीं छोड़ते । इंद्रिय दंडन न करते ।
असंगता है ये भोगते । निरिच्छासे ॥ ९७ ॥

सब लोगोंके ही अनुसार । करता है लौकिक व्यापार ।
किंतु अज्ञानको छोड़कर । लौकिकका ॥ ९८ ॥

जन-जनमें जैसा खेचर । होकर भी न होता गोचर ।
वैसे देहधारीको संसार । नहीं जानता ॥ ९९ ॥

जैसे पवन-गतिके साथ । जल पे खेले जल सतत ।
जानते जन उसमें द्वैत । तरंग रूप ॥ १०० ॥

वैसे नाम-रूप भिन्नताका । वैसे ब्रह्म ही सच है एक ।
मन साम्य हुआ है जिसका । सदा सर्वत्र ॥ १ ॥

ऐसी जिसकी समदृष्टि है । उस नरके जो लक्षण हैं ।
संक्षेपमें हरि कहता है । अर्जुनसे ॥ २ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

जैसे मृगजलका महापूर । हिला नहीं सकता गिरिवर ।
वैसे शुभ अशुभमें विकार । उठते नहीं ॥ ३ ॥

वही है निश्चित । समदृष्टि प्राप्त ।
हरि कहे पार्थ । वही ब्रह्म ॥ ४ ॥

यहीं जीत लिया जन्म स्थिर हो सम-बुद्धिमें ।
निर्दोष सम जो ब्रह्म उसीमें जो हुए स्थिर ॥ १९ ॥
न होता प्रियसे हर्ष अप्रियसे न व्याकुल ।
बुद्धि निश्चल निर्मोह ब्रह्मज्ञ ब्रह्ममें स्थिर ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

निज वृत्तिको छोड़कर । न आता इंद्रियग्राम पर ।
विषय सेवन वहां पर । विचित्र ही है ॥ ५ ॥

अपार सहज-स्व-सुखमें । स्थित होनेसे अपने ही में ।
न झांकता कभी बाहरमें । पांडुकुमार ॥ ६ ॥

थाली है जिसकी कुमुददल । भोजन चंद्रकिरण शीतल ।
औ' वह चकोर खायेगा धूल । यह संभव है क्या ॥ ७ ॥

मिला जिसे निज सहज सुख । अपनेमें स्थित अंतर-सुख ।
उसका छूटेगा विषय सुख । अपने आप ॥ ८ ॥

वैसे भी स-कौतुक । विचार करके देख ।
यह जो विषय सुख । चाहता कौन ॥ ९ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यंतवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

जिसने अन्तर्सुख नहीं देखा वही विषय सुखके पीछे पड़ते हैं—

देखा नहीं जिसने निज सुख । रमता वही इंद्रियार्थी देख ।
बासी रोटी देख कर भी रंक । जैसे चाहता उसे ॥ १० ॥

अथवा मृग जो तृषा पीडित । भ्रमसे छोड़कर जल सोत ।
दौडते रहते मृग-जलार्थ । ऊसरमें सदा ॥ ११ ॥

जिसे नहीं निज सुखका अनुभव । औ' जिसको स्वरुपानंदका अभाव ।
उसको है विषय सुखका वैभव । भाते अपार ॥ १२ ॥

असंग विषयोंमें जो जानके आत्मका सुख ।
लीन होके ब्रह्ममें ही पाता है सुख अक्षय ॥ २१ ॥

इंद्रियोंके सभी भोग दुःख कारण केवल ।
उठते गिरते जान ज्ञानी न रमता वहां ॥ २२ ॥

विषयोंमें वैसा कुछ सुख है । कहने जैसा भी कुछ नहीं है।
विद्युल्लतासे जैसे न होता है । प्रकाश जगतमें ॥ १३ ॥

वात वर्षा आतपमें यदि साया । करती है घने बादलकी काया।
व्यर्थ है तब बांधना धनंजय । महलादिक ॥ १४ ॥

विषयोंको सुख कहना । व्यर्थकी बात है कहना।
विषकंदको ही कहना । जैसा अति-मधुर ॥ १५ ॥

कहते जैसे भूमिपुत्रको मंगल । अथवा मृगजलको कहते जल।
विषयानुभव कहलाता गरल । वैसे ही व्यर्थ ॥ १६ ॥

जाने दे पार्थ सब ये बोल । सर्प फनकी साया शीतल।
होगी कह कहाँ तक निश्चल । मूशकको ॥ १७ ॥

आमिष ग्रास जैसा अर्जुन । न खाये तब तक भला मीन।
वैसा विषय संग संपूर्ण । जान तू निश्चित ॥ १८ ॥

विरक्तियोंकी जो दृष्टि । देखती इसे किरीटी।
पांडुरोगकी है पुष्टि । वैसे ही ॥ १९ ॥

तभी विषय भोगमें सुख । जानो है वह साद्यंत ही दुःख।
किंतु क्या करेंगे जन मूर्ख । भोगके न थकते ॥ १२० ॥

न जानते अंतरंग बेचारे । इसीलिये सब सेवन करे।
कहो पूय पंकके है जो कीरे । क्या करेंगे घृणा ॥ २१ ॥

दुख ही उन दुखितोंका घर । है विषय कर्दम ही दुर्दर।
भोग-जल जलके जलचर । छोडें कैसे ॥ २२ ॥

और जो ये दुःख योनी हैं। सब निरर्थक होती हैं।
यदि जीव सब विरत हैं । विषयोंमें ॥ २३ ॥

वैसे ही गर्भवासका कष्ट । या जन्म-मरणादि संकट।
अविश्रांत रूप यह बाट । चलेगा कौन ॥ २४ ॥

विषयी यदि विषय छोडेंगे । महादोष ये जो कहाँ रहेंगे।
संसारादि नाम ये व्यर्थ होंगे। इस जगतके ॥ २५ ॥
तभी किया सुख बुध्दिसे स्वीकार । विषय सुखका है जीवन भर।
कर दिखाया मिथ्याको सच कर । अविद्याजात ॥ २६ ॥

सुन अर्जुन इस कारणसे । विष है विषय विचारनेसे ।
नहीं जा तू कभी इस राहसे । भूल कर भी ॥ २७ ॥

इससे ये विरक्त पुरुष । त्यजते हैं जैसे मान विष ।
न भाता उन्हे सुख रूप दुःख । विषयोंका कभी ॥ २८ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

बात नहीं ज्ञानियोंमें । विषयकी सपनेमें ।
देह भावको देहमें । मिटाया है ॥ २९ ॥

सदा जिसका अंतःकरण । अनुभवता सुख महान ।
न जाने अन्य कछु अर्जुन । विषयादिक ॥ १३० ॥

वे हैं भोगते द्वैत भावसे । पक्षीके फल चुगने जैसे ।
यहां संपूर्ण विसर्जनसे । भोक्ता भावके ॥ ३१ ॥

भोगमें ऐसी अवस्था आती । अहंताका परदा हठाती ।
महासुखालिंगन कराती । ऐक्य भावका ॥ ३२ ॥

उस आलिंगनके समय । जलमें होता जलका लय ।
मिट जाता है वैसा उभय । न दीखता भेद ॥ ३३ ॥

या आकाशमें खो जाता वात । मिटती वह "दो" ऐसी बात ।
रहता सुख मात्र शाश्वत । भोगमें वहाँ ॥ ३४ ॥

द्वैतकी भाषा मिटती है जहाँ । रहता है फिर ऐक्य ही वहाँ ।
रहता फिर साक्षी कौन कहाँ । जानता जो ॥ ३५ ॥

योंऽतः सुखोंऽतरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

यत्नसे मृत्युके पूर्व देहमें जो पचा सका ।
काम क्रोधादिके वही योगी वही सुखी ॥ २३ ॥
प्रकाश स्थिरता सौख्य मिला अंतरमें जिन्हे ।
ब्रह्म ही बनके योगी पाता निर्वाण ब्रह्ममें ॥ २४ ॥

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

इसीलिये जाने दो संपूर्ण । न बोलने जैसा बोले कौन ।
जानेगा सहज ज्ञानी चिह्न । आत्माराम ॥ ३६ ॥

जो हैं ऐसे सुखमें मगन । अपनेमें हैं आप अर्जुन ।
वे ढली हुई मूर्ति समान । समरसकी ॥ ३७ ॥

हैं वे आनंदके अनुकोर । महासुखके हैं जो अंकुर ।
या महाबोधके हैं विहार । बने जो ॥ ३८ ॥

वे हैं विवेकके गांव । परब्रह्मका स्वभाव ।
या सजे हैं अवयव । ब्रह्मविद्याके ॥ ३९ ॥

वे हैं सत्वके सात्विक । या चैतन्यके आंगिक ।
क्यों कर ये एक एक । बखानना है ॥ १४० ॥

विषय विस्तारकेलिये श्रीनिवृत्तिका उलाहना—

जब तू संत स्तवन रचता । कथाका विचार नहीं करता ।
विषयांतर कर तू बोलता । सनागर ॥ ४१ ॥

कर तू रसातिरेक संकुचित । ग्रंथार्थ दीप कर-प्रज्वलित ।
साधु हृदय मंदिर कर प्रभात । मंगलकारक ॥ ४२ ॥

ऐसा गुरुका अव्हाहन । निवृत्तिके दासने सुन ।
कहता श्रीकृष्ण-वचन । वही सुनो ॥ ४३ ॥

जिसने अनंत सुखका सागर । तलका लिया है सुदृढ आधार ।
वह तद्रूप होकर वहीं स्थिर । हुए हैं पार्थ ॥ ४४ ॥

विशुद्ध आत्म प्रकाशमें । विश्व देखता अपनेमें ।
वह है ब्रह्म रुप तनमें । मानना निश्चित ॥ ४५ ॥

पाते हैं ब्रह्म-निर्वाण होते हैं क्षीण-पाप जो ।
असंशयी ऋषी ज्ञानी जो विश्व हितमें रत ॥ २५ ॥

सत्याकार वह परम । अक्षर है वह निःस्सीम ।
उस गांवके है निष्काम । अधिकारी जो ॥ ४६ ॥

महर्षियोंका जहाँ अधिकार । विरक्तोंका है अंश सुंदर ।
संशय रहितोंका निरंतर । फलद्रूप वह ॥ ४७ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

मानवके निःस्सीम स्थितिका विवेचन—

विषयोंसे जिन्होंने खींचलिया । अपना चित्त आपही जीत लिया ।
निश्चित ही वहां लीन किया । सदैवही ॥ ४८ ॥

वह है परब्रह्म निर्वाण । आत्मज्ञानके ही कारण ।
उन्हींको तू पुरुष है जान । धनंजय ॥ ४९ ॥

वैसे वे कैसे हुए । देहमें ब्रह्मत्व पाए ।
संक्षेपमें हरि कहे । अर्जुनसे ॥ १५० ॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौकृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥ २७ ॥

वैराग्यका सहारा ले करके । तजे विषय अंतःकरणके ।
अंतर्मुख किये वेग मनके । शरीरमें ही ॥ ५१ ॥

सहज होती त्रिवेणीकी भेंट । पड़ती जहां भ्रूमध्यमें गांठ ।
वहां स्थिर करके जो दीठ । फेरते हैं ॥ ५२ ॥

छोडकर दक्षिण वाम । प्राणापान करके सम ।
चित्तको करने व्योम । मार्गी पार्थ ॥ ५३ ॥

जीतते काम औ' क्रोध यत्नसे चित्त रोधके ।
देखतें ब्रह्म-निर्वाण ब्रह्मज्ञ सब ओरसे ॥ २६ ॥
विषयोंका बहिष्कार दृष्टि भ्रूमध्यमें स्थिर ।
नाकसे चलते श्वास प्राणापान करे सम ॥ २७ ॥

यतेंद्रियमनो धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

जैसे मार्गादिकका सकल । पानी ले गंगा सागर तल ।
जाके चुनती क्या भिन्न जल । एकेक करके ॥ ५४ ॥

वैसे वासनांतरकी विवंचना । अपने आप मिटती अर्जुन ।
गगनमें जब लय होता मन । प्राणायमसे ॥ ५५ ॥

संसार चित्र जहाँ पड़ता । वह मन पट है फटता ।
सरोवर जब है सूखता । तब नहीं प्रतिबिंब ॥ ५६ ॥

मिटता जब मूलसे मनत्व । रहता वहाँ अहंकार तत्व ।
तभी शरीरमें जो ब्रह्मतत्व । अनुभवना ॥ ५७ ॥

भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदम् सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥ २९ ॥

हमने जो अभी कहे हुए । देहमें ही जो ब्रह्मत्व पाए ।
सब वे इसी मार्गसे आए । इसीलिए ॥ ५८ ॥

यम नियमोंके डोंगर । तथा अभ्यासके सागर ।
अतिक्रमण कर पार । आये सब ॥ ५९ ॥

अपनेको कर निर्लेप । लेकर प्रपंचका नाप ।
हो गये सत्यका ही रुप । जीवनमें ॥ १६० ॥

योग-युक्तका यह उद्देश । बोला वह हृषीकेश ।
सुनकर अर्जुन सुदंश । हुआ चकित ॥ ६१ ॥

जाना कृष्णने यह देखकर । बोले तब पार्थसे हंसकर ।
हुआ न तेरा चित्त सुनकर । प्रसन्न अब ॥ ६२ ॥

जीतके मन प्रज्ञाको मुनि मोक्ष परायण ।
तजे इच्छा भय क्रोध सदा-सर्वत्र मुक्त है ॥ २८ ॥
भोक्ता तप यज्ञका मैं मित्र हूँ विश्व-चालक ।
मुझको मानके ऐसा पाता है शांति-शाश्वत ॥ २९ ॥

अगले अध्यायकी भूमिका रूप योग-मार्ग-दर्शन—

अर्जुन कहता तब देव । पर चित्त लक्षणका ठाव ।
जान लिया तूने भला भाव । मनका मेरा ॥ ६३ ॥

स विवरण मेरा जो पूछना । देव ! उसीको पहले कहना ।
कहा जो उसीको फिर कहना । स्पष्ट रूपसे ॥ ६४ ॥

वैसे तेरे कहनेके अनुसार । पगडंडीसी है यह पानी पर ।
ऐसा सरल पथ जो शार्ंगधर । कहा अब ॥ ६५ ॥

सांख्यसे है यह सरल । हम जैसोंको जो दुर्बल ।
समझनेमें कुछ काल । सहना पडे ॥ ६६ ॥

इसीलिये मधुसूदन । मेरा है यह निवेदन ।
इसीका सविस्तर कथन । करना साद्यंत ॥ ६७ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं ऐसा । तुझे लगा यह भलासा ।
कहता हूँ सुखसे वैसा । सुनो अब ॥ ६८ ॥

अर्जुन तू यदि सुनेगा । सुनकर वैसा चलेगा ।
तब कहनेमें करूंगा । क्यों संकोच ॥ ६९ ॥

चित्त है जो पहले ही माताका । निमित्त है वहां मन-भानेका ।
अब उस अद्‌भुत स्नेहका । करना ही क्या ॥ १७० ॥

कहना उसे कारुण्यकी वृष्टि । अथवा स्नेहकी नूतन सृष्टि !
या वह थी हरिकी अनुग्रह दृष्टि । हरिही कहें ॥ ७१ ॥

वह थी क्या अमृतसे है ढली । या प्रेम रससे मत्त थी भली ।
पार्थ प्रेममें उलझी पहली । जो छूटे ही ना ॥ ७२ ॥

करना इसका जितना वर्णन । टूटेगा उतना कथाका संधान ।
किंतु न होगा प्रभु स्नेहका ज्ञान । शब्दसे कभी ॥ ७३ ॥

इसमें है क्या आश्चर्य महान । नहीं जिसे अपना ही ज्ञान ।
करेगा कैसे वह आकलन । ईश्वरका भला ॥ ७४ ॥

अबतककी कृष्णवाणीकी ध्वनिसे । लगता पार्थ प्रेममें उलझनेसे ।
हरि कहता है मानों बलात्कारसे । सुनो बाबा ॥ ७५ ॥